दलित नैतिकता बनाम वर्चस्ववादी

ओमप्रकाश वाल्मीकि

गत दिनों शंकराचार्य की गिरफ़्तारी को लेकर जो घटित हुआ, उसने एक बार फिर से इस धारणा को पुष्ट किया है कि यहां दो तरह की नैतिकताएं हैं, जो ऐसे अवसरों पर साफ़-साफ़ दिखाई देने लगती हैं। एक वह है जो शंकराचार्य को जगतगुरु मानकर दावा करते हैं कि उन पर भारतीय संविधान की कोई भी धारा लागू नहीं होती है। ऐसी नैतिकता के वे लोग हैं जो धार्मिक कट्टरतावाद, सामाजिक वितंडावाद, वर्चस्ववाद, सांस्कृतिक वैमनस्य, सामाजिक प्रदूषण फैलाने के पक्षधर हैं। शंकराचार्य की गिरफ़्तारी उन्हें धर्म का अपमान लगती है। पर्दे की आड़ में खेले जाने वाले अनैतिक, अमर्यादित कुकृत्य भी धर्म का हिस्सा लगते हैं। इसीलिए वे शंकराचार्य जैसे ध्वजवाहकों को संविधान से बाहर मानते हैं। ऐसा माननेवालों में साधारण जन नहीं, अति विशिष्ट लोगों की संख्या ज़्यादा है। मसलन पूर्व प्रधानमंत्री, पूर्व उपप्रधानमंत्री, गृहमंत्री, राष्ट्रीय स्तर के राजनेता, सांसद, पत्रकार, बुद्धिजीवी, संत कहे जाने वाले अनेक पेशेवर मठाधीश आदि-आदि।

दूसरी नैतिकता के वे लोग हैं जो शंकराचार्य को संविधान के दायरे से बाहर नहीं मानते हैं। बल्कि एक नागरिक के

तौर पर, उन पर भी वे तमाम संवैधानिक धाराएं लागू होनी चाहिए, जो एक सामान्य नागरिक पर लागू होती हैं।

ये दो तरह की भिन्न नैतिकताएं हैं, भिन्न राष्ट्रीयताएं हैं जिनकी संस्कृति, संस्कार, सोच-विचार, मानसिकताएं अलग हैं। इनमें ये विभेद हज़ारों वर्ष पुराने हैं जिन्हें स्थापित करने में सिर्फ़ धर्मग्रंथों की भूमिका ही नहीं रही, बल्कि साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों ने भी अहम रोल अदा किए हैं। ऋग्वेद के 'पुरुषसुक्त' से जो असमानता का सिलसिला शुरू हुआ, उसी के परिणामस्वरूप दलितों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अमानवीय यातनाओं से गुज़रना पड़ा। पुरुष-सुक्त सिर्फ़ वर्ण भेद का ही उद्गम नहीं है, बल्कि दर्शन, साहित्य को भी उसने प्रभावित किया और एक व्यवस्थित क्रम- बद्धता दी जो आध्यात्मिक अधिनायकवाद के रूप में आज भी जारी है और वर्चस्ववाद को लगातार सुदृढ़ कर रही है।

वर्तमान संदर्भों में भी ये तथ्य गौरतलब हैं। भारतीय लोकतंत्र की इस संसदीय प्रणाली में श्रमिक और दलित की प्रतिष्ठा स्थापित करने या जातीय-व्यवस्था को समाप्त करने की कोई पहल दिखाई नहीं पड़ती है। शिक्षण संस्थानों में तो स्थिति और भी भयानक है। शिक्षण संस्थान ब्राह्मणवादी वर्चस्व के घोर समर्थक हैं और श्रम के मूल्य को निम्न दृष्टि से देखते हैं। जो लोग मिट्टी, उत्पादन, सफाईकार्यों और अन्य जीवन उपयोगी ज़रूरतों को उपलब्ध कराते हैं, वे सामाजिक दृष्टि में नीचे हैं। वे शूद्र हैं, दलित, अंत्यज, कोटेवाले हैं। उनकी क्षमताओं को शक की दृष्टि से देखा जाता है।

सर्वहारा के पक्षधर वामपंथियों की स्थिति भी इन संदर्भों में पुरातन-पंथी है। उनका पूंजीवाद विरोध भारतीय जाति व्यवस्थावादी समाज में कोई मायने नहीं रखता। जब तक वे दलितों के जातिवाद विरोध में शामिल होकर, उनके साथ खड़े नहीं होते। उन्हें पूंजीवाद विरोध में ब्राह्मणवाद विरोध, सामंतवादी विरोध शामिल करना होगा। वरना वे इस संसदीय प्रणाली में हाशिए पर ही रहेंगे। दलितों का समर्थन उन्हें नहीं मिलेगा। इसकी वजह है भारतीय अर्थव्यवस्था का जातीय आधारित होना। इस तथ्य को वामपंथी अनदेखा करते रहे हैं।

यहां यह कहना भी असंगत नहीं होगा कि हिंदू मंदिरों के पास जो अगाध संपत्ति है, उसका दलितों को कोई भी लाभ नहीं मिलता है। उसका पूरा लाभ वर्चस्ववादियों को मिलता है।

कांचा इलैय्या लिखते हैं, 'माता-पिता और बच्चों के लिए समानता और नैतिकता कोई दो अलग-अलग बातें नहीं हैं। वे बच्चों को ऊंची जाति के स्वामियों के आगे नतमस्तक होना सिखाते हैं। ऐसा इसलिए नहीं कि 'मडिग्गा, चक्काली और मांगली (सभी दलित बहुजन) माता-पिता में ऊंची जाति के स्वामियों, जमींदारों, ब्राह्मणों या बनियों के प्रति ज़्यादा आदर था। अपने रोज़गार के छूट जाने के डर से वे ऐसा करते थे। वे अपने बच्चों से कहते, 'मेरे बेटे उस हरामजादे से सावधान रहो। उसके प्रति आज्ञाकारी होने का ढोंग करो, वरना वह कमीना हमारे पेट पर लात मार देगा।' बच्चे आज्ञाकारी होने का ढोंग करते जैसे गांधीजी ग़रीब बनने का ढोंग रचते थे। छोटी उम्र में ही किए जाने वाला यह ढोंग पूरे जीवन उनके व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाता।' यह एक चित्र है दलित बहुजन के आंतरिक जीवन का, उनकी चेतना और नैतिकता का, जिसे वे वर्चस्ववादियों के प्रति अपने रोज़मर्रा के क्रियाकलापों में इस्तेमाल करते हैं।

वर्चस्ववादियों की बुद्धिमत्ता दलितों को साक्षर होने से रोकती रही है। यह सिलसिला ऐतिहासिक है। आधुनिक काल में डॉ. अंबेडकर के आविर्भाव और आधुनिक शिक्षा, आरक्षण ने दलितों में एक पढ़ा-लिखा वर्ग तैयार किया है जो नैतिकता की पुनर्व्याख्या कर रहा है। प्रत्येक मान्यता, जीवन-मूल्य पर प्रश्न खड़ा करके उसकी व्यवहारिकता, लोकतांत्रिक आधार पर उपयोगिता पर परखना चाहता है।

दूसरी ओर वर्चस्ववादियों के अपने प्रतीकों, आख्यानों में नकारात्मक, हिंसावादी नायकों का प्रभुत्व है। उदाहरण के तौर पर महाभारत के कथानक को ही लें, वह सत्ता और संपत्ति के व्यक्तिगत झगड़ों पर आधारित है। जिसमें सत्ता और संपत्ति के लिए अपने सगे-संबंधियों की हत्या करना कोई पाप नहीं है। किसी समूह या समाज की समस्या या विकास का कहीं दूर-दूर तक भी कोई संकेत नहीं है। जबकि दलित नैतिकता में सगे-संबंधियों की हत्या, चाहे उसकी कोई भी वजह हो, अपराध की श्रेणी में रखा जाता है।

सामाजिक जीवन में वर्चस्ववादियों ने कुछ ऐसी स्थितियां निर्मित की हैं, जो यह स्थापित करती है कि वे महान हैं, उनकी संतानें महान हैं, उनकी संस्कृति श्रेष्ठ है, वे ही संस्कृति के सच्चे और सर्वश्रेष्ठ वाहक हैं। यह बात इतनी बार दोहराई जाती है कि इसे ही सच मान लिया जाता है। और समूचे समाज की मानसिकता पर यह सोच हावी हो जाता है। इसी कल्पना आधारित मानसिकता ने वर्चस्ववादियों की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों को ताकतवर बनाया है।

जिस समाज में कृषि-उत्पादन के लिए हल को हाथ लगाना ही व्यक्ति के छोटे या बड़े, निम्न या उच्च हो जाने का द्योतक हो, फिर भी ऐसे लोग धन-धान्य से समृद्ध हों और जो दिन-रात, सर्दी, गर्मी, बरसात, हारी-बीमारी में भी खून-पसीना बहाकर अनाज पैदा करें, वे भूखे रहें, निकम्में कहे जाएं यह भारतीय जीवन का एक वीभत्स रूप है। यह सब कितना पीड़ादायक है। भीतर कहीं गहरी वेदना उपजती है, जो गर्म भट्ठी की तरह झुलसाती है।

वर्चस्ववादी दूसरों के श्रम पर अपना अधिकार समझता है। इसी के लिए वह दर्शन गढ़ता है, आख्यानों का निर्माण करता है। ब्राह्मणवादी भारतीय मानसिकता लोगों में सामूहिक आर्थिक गतिविधियों के लिए कोई चेतना नहीं जगाती है इसीलिए उनकी तमाम गतिविधियों से दलित स्वयं को अलग कर लेता है। अपनी मजबूरियों, विवशताओं के चलते उनसे जुड़ता है, न कि अपनी स्वेच्छा से। इसके पीछे ऐतिहासिक कारण मौजूद हैं। जहां दलितों ने बार-बार धोखा खाया है। और आज भी खा रहे हैं।

'गीता-दर्शन' की महत्ता भारतीय समाज में उच्च श्रेणी की मानी जाती है– 'कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' कर्म करो, फल की इच्छा मत करो' जैसे सूत्र वाक्य से जो प्रतिध्वनित होता है, वह भी एक साजिश है, उस वर्ग के प्रति जो श्रम से जुड़ा है। इस दर्शन से आखिर लाभ किसे पहुंचता है? कर्म से जो फल मिलता है, वह किसके पास जाता है? इस दर्शन को जन समुदाय तक व्याख्या करके कौन लोग पहुंचा रहे हैं? उनकी जीविका का आधार क्या है? आय का स्रोत क्या है? एक प्रवचन देने के कितने रुपए लेते हैं? वे लोग जो श्रम को निकृष्ट मानते हैं, लेकिन उसके फल पर सिर्फ़ अपना हक़ समझते हैं। उस फल से ज़रा भी किसी ने कुछ लेने की कोशिश की तो हश्र बुरा होगा (जैसा मंडल आयोग के लागू करने पर हुआ या समुद्र-मंथन के समय 'अमृत' निकलने पर देवताओं ने अपना हक़ जताया)

दर्शन और आध्यात्मवाद के प्रपंचों में उलझी वे तमाम व्याख्याएं यही सिद्ध करती हैं जिन्हें पवित्रता के आवरणों में लपेट कर प्रस्तुत किया जाता है। जबकि ये पवित्र अस्तित्व, प्रकृति की महत्ता को स्वीकारने वाली नैतिकता के सामने हमेशा कमज़ोर रहे हैं। प्रकृति से उत्पन्न चेतना अपने ढंग से नैतिकता के मूल्यों का निर्माण करती है जो बाह्य शक्तियों द्वारा उत्पन्न शक्ति से भिन्न और मजबूत होती है।

धर्म और वर्चस्ववाद का एक मजबूत गठजोड़ है जो बाज़ार-व्यवस्था उत्पन्न करता है। एक ऐसा तंत्र तैयार करता है, जहां दलित और श्रमिक की एक वस्तु से ज़्यादा कोई अहमियत नहीं होती है। वे सिर्फ़ एक उपभोग की वस्तु होते

हैं उनके लिए। इस्तेमाल किया और फिर दुत्कार दिया।

दलित नैतिकता में स्त्री की स्वतंत्र महत्ता है लेकिन साथ ही वह पितृसत्तात्मकता की चक्की में भी पिस रही है। विधवा विवाह को हमेशा उच्च श्रेणी में रखा लेकिन पितृसत्तात्मकता के दोहरे चरित्र से भी उसे रूबरू होना पड़ा। इस संघर्ष में उसने अपना विरोध प्रकट करने की स्वतंत्रता अपने पास रखी। वह गाली का जवाब गाली से देती है। मारपीट का जवाब मारपीट से देती है। दलितों में पारिवारिक व्यवस्था भी सामूहिकता का एक हिस्सा है। हिंसा का विरोध भी खुलकर होता है, सामूहिक रूप में। दलितों में व्यक्तिगत की जगह सामूहिकता ज़्यादा है। यह उनकी चेतना का हिस्सा है। यही कारण है कि दलित साहित्य में दलित आत्मकथाएं व्यक्तिगत नहीं समूह की व्यथा-कथाएं होती हैं। यदि किसी ने व्यक्तिगत करने के प्रयास किए भी, तो वहां भी सामूहिकता ही प्रभावी होती है जो उसे व्यक्ति से समूह बनाती है।

दलितों में 'निजी संपत्ति' का दर्शन नहीं था। यह उनकी शक्ति का द्योतक था। लेकिन वर्चस्ववादियों ने इस शक्ति को विखंडित किया दलितों के सोच को बदलने के तमाम हथकंडों को प्रभावी रूप से फैलाने की कोशिश की।

दलित नैतिकताएं ईश्वरीय नहीं हैं। रोज़मर्रा के जीवन की अच्छाइयों और बुराइयों पर आधारित जीवन की मानवीय संवेदनाएं और अनुभूतियां वहां ज़्यादा लोकतांत्रिक और समाज सापेक्ष हैं जिन्हें समझना और जानना उस हर एक व्यक्ति के लिए ज़रूरी है, जो समय के साथ बदलना चाहता है, मानवीय मूल्य के प्रति सजग है।

